

चौसठ कवितारं

इन्दु जैन



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक - २०३

सम्पादक एवं निधामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

CHOUNSATH KAVITAYEN

(Poems)

INDU JAIN

Bharatiya Jnanpith
Publication

First Edition 1984

Price Rs 100



प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

१ अन्वीपुर पाद प्लेस, बलरामा २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड रोड, बाराणसी ५

विविध वेन्ट्र

१९८०-८१ नवम्बर शुभाष मास, पूर्णिमा ६

प्रथम संस्करण १९९४

मूल्य तीन रुपये

समर्पित मुद्रणालय, बाराणसी-५

१	नदी डूबे जगल में	१
२	गियाम क अहरा का तरह	२
३	सम म फूल आ गय	४
४	अन्दर से फोड़ता प्रवाह चला आता है	६
५	दूर बहुत दूर वहाँ	८
६	जीत पल सपना स	९
७	म तुम्हारी खुशनु म पग	११
८	अमन्तोष का तोखी तज आग धूपम	१२
९	घुटन तोड़ दिय है	१४
१०	आ गया पतझर	१६
११	और तब फिर याद आयगी	१८
१२	नाम म लगा हुई भूली रहा	२०
१३	एक क्षण अकस्मात्	२१
१४	बिना गिर आँसुओं स	२३
१५	मुझे एक सपना दियता है	२४
१६	इधर दो दिन लगातार	२६
१७	यह अममृच्छता क्या है ?	२८
१८	यह हवा का सद सा झार	२९
१९	जिस तर्द स तिलमिलार	३०

२०	पतला पगडण्डा सा	३२
२१	मैन ऊँच यादल दग	३३
२२	'बेला' — कहा एक बार	३६
२३	सूय दिन में रग माना यात	३७
२४	शोमि क बहुत घा गुरमु क	४०
२५	हाट सा कर	४१
२६	मार का भाय मपना	४२
२७	याद की उँगलियाँ	४४
२८	आम्मारहित पशुयत् दह का पुनार	४६
२९	उम डगिन का मुह बना हूँ	४८
३०	रात भर गात चल	५०
३१	यदि जायन यह हाता ना	५२
३२	चाहती हूँ	५३
३३	उमले उनाल स घिरा हुइ चलती हूँ	५५
३४	गात का अमर साधारणता	५६
३५	गुलाब सा मुह म	५८
३६	बहुत समझदार	५९
३७	पदाघात स अशार पूर आता है	६१
३८	बलमा मरा हयारो होली	६२
३९	पग लगा दूर उड़ जाना	६३
४०	रग यहु मिला गय	६५
४१	तप हुण माथ पर	६६
४२	आ मोर निरधर वाला क प्रणता	६७
४३	मिर्च याद और याद और याद	६८
४४	माहक बन्धनों म अड़ा हुइ पोंस	७०
४५	बहुजन का पाड़ा क धन स	७१
४६	कमान्कमा पसा मा लगता है	७३
४७	सुयह, या हर दिन	७५
४८	मिक्षि और लड़सङ्गात पोंस	७७
४९	दर्द की कुछ और रुडियो बड़ गया है	७८
५०	ने पत्र	७९
५१	रात एक नया गात गाया था	८४

५२	एक परत, एक लहर	८५
५३	दुपहरिया फलों सा तपा छिपा प्यार	८६
५४	एक गहरी आवाज ,	८८
५५	मैंने बहुत से कौमल भावा की	९०
५६	काश, मरी कविता	९२
५७	मीड़ मरी अरली शाम	९४
५८	गुलाना कमर में बैठे बैठे	९६
५९	दूरी की अतल गहराइयो की नापती	९७
६०	व्यक्तित्व की परता में	९९
६१	प्रथम स्पर्श का जन्म दिन	१०१
६२	मीत हमार	१०२
६३	एक बहुत बड़ा पसवाला पीला सॉप	१०३
६४	चन्दन तन पर रिसत नासूर लिय	१०५

गुलाब-सी सुबह मे
काँटि-सा कसकता मन —

चाँद के दपण मे
चोट की तरेड

मेरी बिटिया के
बादल-से पैर मे चुभी
शोशे की कत्ती —

•
•
•
•

चौसठ कविताएँ

नीद-डूबे जगल में
छिपा हुआ चाद

यह
मेरा वातावरण है ।

तडकी हुई वासुरी में
थमी हुई तान

यह
मेरा मन है ।

वधन में घले मृग शावक की
भूली हुई गति
तुम हो ।

— सब अपनी अपनी जगह लाचार, अमहाय —

१ जून १९६३

खैयाम के अहेरो की तरह
दोनो ने फँके थे जाल —

मेरे मे आ फँसा सूर्य
तेरे मे निफ कुछ भीगे हुए फूल ।

सूर्य को उठा लिया मस्तक पर
गव से ।
— तुम
थुरे फूल धर हथेली पर
देखते रहे ।

पिघला निजत्व और तपा हुआ माथा ले
द्वार पर पहुँची
और
बैठ गयी चोखट पर ।

तुमने
उछाल दिये खिल फूल
आले मे
और एक बेफिक्र तान गुनगुनाते
चल दिये फिर से
तट को
परिचित
डगर ।

●

२ अक्टूबर १९६३

सेम म फूल आ गये
 सहेली ।
 देख - आ ।
 या कहूँ -
 जाडे में
 शीशे की झील पर
 तैरी कपास ।
 या
 धूप के सुनहरे हरे
 खेन लहरा गये ।
 देग - आ ।

छुटे बाल, गाल छू
 हवा ने बत्ताया था -
 'रात को बसन्ती रग
 आगन में छाया था ।'

छाया था
 रात को बसन्ती रग ?
 उगी थी केसर पहाड़ा पर ?
 उगी ही होगी तन -
 रात बूठ बाल कर
 बचेगी क्या ?

देखा या भोरे ही
कुहरा तो खुद मने ।
बूँदें भी पुरसी थी ।

और फिर —
सबसे बड़ी बात —
यहां
सेम जो फूली है ।

●

९ फरवरी १९५७

अन्दर स फोड़ता
 प्रवाह
 चला आता है — तोड़ता
 मस्तक कर ऊँचा ।

एक-एक पसली की दु गन
 साँसों की पटन
 बड़ी असह ।
 कहा राजराग प्राणा पर आ बैठा ।

पिजरे म इतना भी नहीं
 नभ मिला —
 पर हिल जाते,
 चोच खोल पाता अन्धा पाखी,
 बोल कभी पाता —
 वह प्यासा है ।

बात बहुत सीधी-सी कहनी थी —
 उलझ गयी ।
 लमहे भर म दुनिया
 इधर-उधर
 हो जाया करती है ।

धरती, अम्वर, सोना, नीलम
सब
उलट-पुलट पल-भर में होते हैं ।

तीखी-सी मुई चुभी
हाथ हटा
मुई नहीं रुकी
और
चुभन नहीं थमी,
नोक बरछी-मी पैठती चली गयी ।

पतले सूरस से
जगह जरा पाते ही,
युग-युग का दवा, रका
अदर से फोड़ता
प्रवाह
चला आता है तोड़ता —
मस्तक कर ऊँचा ।

●

२६ नवम्बर १९५७

दूर बहुत दूर वहाँ
 मूनमान
 प्याम फटा रेगिस्तान
 पैर धँसे
 हाठ गुले
 बाँह वहाँ गही नहीं गयी
 वहाँ
 बाँह वही मिली ही नहीं ।

●

१४ जनवरी १९५७

बीते पल सपनो से,
 दूर हुए जाते हैं ।
 सपने दिन में बीती घड़ियो-में,
 पास बहुत,
 मन घेरे, बेसुध गोदी में ले,
 लोरी दे,
 थपक-थपक गाते हैं ।

कैसी तय जाग
 और सोना ही कैसा तय ।
 मिला-जुला उलझाया ॥

दूरी की धुमरीली, ।
 ऊँची-नीची सडके,
 — थके-थके सपनो के बैलो को —
 — हसरत के उँधे झुके राही को —
 लगातार रोती सी घण्टी सुन
 वही कही,
 गले लगा,
 आँसू भर,
 रोक लिया करती है ।

मानो मन मे गहर सरेगा ।
मानो ता षी गौरव
छाने गंगा के गम-गम जाँगू मे
मोम प्रनी बिघलेगी ।

प्रोने पल गपना से —
गपना म आते दे ।
ये ही मेरे — अपने —
आत्मज ह ।
रम मे कम आज,
अभी ।

●

२४ नवम्बर १९५७

मैं तुम्हारी खुशबू में पगे
 अपने आँचल से ढर गयी हूँ,
 साप की तरह
गुजठक में लपेट
 दश कर लेता है मन पर,
 रंगों में बेहाशी के क्षरने बहाता हूँ,
 सुलाता है ।

इस आँचल की तेजोमयी आँखों से
 मन्त्रमुग्ध हिरनी सी
 दैवी हुई
 खड़ी हूँ ।

व्याध या वधिक की
 दिशा से अजानी
 मृत्यु के वृत्त में
 ✓ काले मोती सी
 जड़ी हूँ ।

२१ अगस्त १९६३

रॉसन् कविताएँ

अस-तोप की तीखी
 तेज आग धूप से
 प्राणा का फूल
 विरम,
 सूखा,
 मुरझाने दो ।
 जल ही अग जाने दो
 मन के
 मधु किंगुव को ।

उबर माँ घरती है ।
 हिरदय म
 अमृत है ।
 ! दुधियाया धुला धुला
 उजला दुलार है ।

जले - फूल प्राणों का ।

राई से खील खील
 बीज जब छिटकेगे -
 शायद अनुभूति बहुत पौदों में ।
 चौंसठ कविताएँ

दूबदिल-सी
 चिकनी —
 होकर सहस्रमुखी,
 उग आये —
 छा जाये —
 हरी हरी
 उवर माँ भूमा की
 रस-भीनी परतों पर ।

१२ मार्च १९५८

घुटने तोड़ दिए ह
 अमल्य एक पल ने,
 हाथो म कम्पन भर
 छोड़ दिया कगार के मुँह पर ।

गढ़े रहो
 मेरे दप ।
 सूरज डगने तक रये रहा ।

जय तक आँगो का तेल चुके,
 गोल की मिठास धुले,
 विश्वास स्पलित हा रुले,
 — तय तक टिके रहो ।

एक टूटे पल से
 दूसरे भग्न पल की बड़ी तक
 — जुड़े रहो ।

अँधेरे की दया-भरी दृष्टि में
भरे हुए
भहरा जाना ।
कोई भी इतिहास
शेष
छोड़ मत जाना ।

●

१२ सितम्बर १९६३

A. K. S. B.

C

आ गया पनवार
 पत्ते झर गये मर ।
 गोल चक्कर गाँध उट्टी धूल ।
 रम टपका—
 गये मर जलियो वे हरे मुसंडे मूर ।

यज रही टहनी,
 हवा म
 हिल रहा पत्ता ।
 उछा-टटा, धरम-से लग गये
 गिर यहा आने में ।

धूप मटमेली हुई
 भू पर दरारें अज पडेंगी—
 नींद की सी शोक झाँके में,
 कहीं पर दूर बोला काग
 फिर से उठी मैं कुछ जाग

मेरे सत्तरो के धाग में
 कुछ फूल आये थे

सभी क्या टूट जायेंगे ?

खटौली और कड़वी खुगबुएँ
हर एक पत्ती से अचानक सोख
मिट्टी हवा में मिल
भाग जायेगी ?

वहा फिर भीर छोटे
धल के चक्कर उठगे ?

●

२५ फरवरी १९५६

— और तब फिर याद आयेगी
 ढलेगा उम्र का जल चाद ।
 जीत पल भरवते जा रह जाँ—
 — जो नहीं हम पकड़ पाते हैं
 — जिन्ह हम और भी जदी बिताते हैं —
 कि
 आगे और कुछ पल
 हाथ लग जायें ।

अनेबो चित्र उगते हैं

बड़ी ही तेज जाती रेल है ।
 बिलखती, चीखती
 बुढ़ रेंगती, खाती पछाड़ें ।
 अमह उस क्षोर से ऊपर उठी आवाज
 करते बात तुम
 समझा रहे ।
 इस कठिन कोशिश से
 तुम्हारा गम है माथा,
 गले की नस चमक आयी ।

बड़ी मजबूरियाँ साथी
 जिन्हे

बस मन समझता है
हमारी राह आती है ।

अनेका चित्र उगते हैं—

वहा नीला बहुत आकाश था,
नीचे दिये थे, नाव थी,
गंगा बहुत गहरी,
चमकता चांद था ।
सब था वही—मन था
मगर कुछ और भी था—
मन जहा अटकाव खाता था ।

हमारे पल—

किसी के पल ।

हमारी 'चुप'—

किसी को बोलने का समय देती थी ।

तभी बस एक झटका खा गयी,

तुम उठ गये—

ढलने लगा चंदा—

उमर कम रह गयी—

दुहरी कमर पर याद की गठरी

उन्हाने लाद दी ।

●

२७ मार्च १९५६

घोसड कथितान

— और तब फिर याद आयेगी
 दूँगा उम का जम चाँद ।
 बीते पल मरवने जा रहूँ जो—
 — जो नहीं हम पसन्द पाते हैं
 — जिन्हें हम और भी जल्दी मरताते हैं —
 बि
 आगे और कुछ पल
 हाथ लग जायें ।

अनेकों चित्र उगते हैं

बड़ी ही तेज जाती रेल है ।
 बिलसती, चीखती
 कुछ रँगती, खाती पछाड़ें ।
 अमह उस शोर से ऊपर उठी आवाज
 करते बात तुम
 समझा रहे ।
 इस कठिन कोशिश से
 तुम्हारा गम है माया,
 गले की नस चमक आयी ।

बड़ी मजबूरियाँ साथी
 जिन्ह

वस मन समझता है
हमारी राह आती है ।

अनेको चित्र उगते हैं—

वहा नीला बहुत आकाश था,
नीचे दिये थे, नाव थी,
गंगा बहुत गहरी,
चमकता चाद था ।

सब था वही—मन था
मगर कुछ और भी था—
मन जहाँ अटकाव खाता था ।

हमारे पल—
किसी के पल ।
हमारी 'चुप'—
किसी को बोलने का समय देती थी ।

तभी वस एक झटका खा गयी,
तुम उठ गये—
ढलने लगा च-दा—
उमर कम रह गयी—
दुहरी कमर पर याद की गठरी
उन्होंने लाद दी ।

●

२७ मार्च १९५६

काम म लगी हुई
भूली रही
उठी—

और बाढ़ ने बहा लिया ।
टूट पड़ी घटा मर पर
त्रिछ गयी धरती पर
लहर पर ।

उतर चली याद की डुवाई—
पा लिया मूंगा मोती त्रिछा तल,
खो गयी—
लौट नहीं पायी ।

●

२९ अगस्त १९६३

एक क्षण

अकस्मात्

सब कुछ सपना हो गया,

सपने सा असंतुलित, मिथ्या,

और हमारा सारा विश्वास

आँखों में रेत भर

सोने के प्रयत्न में रत हो गया ।

जब हम

सो नहीं पाये

असहायता स्वीकार कर

शस्त्र दिये डाल

और

सिर नीचा कर

नगे पाव

तपी सड़क पर दूर तक चले गये ।

न कुँआ टूँडा,

न छाँव ।

सड़क सीधी सागर के मध्य जा

डूब गयी,

एक घूँट पानी के बिना

प्यासे, हम सत्र,

उसी के साथ-साथ

भीतर तक पैठ गय,

और फिर कभी भी
ऊपर नहीं उठे ।

तुम तो निरे पागल हो ।
तुम ? और दोषी ?
तुम भी तो वही थे
भीड़ में साथ-साथ,
और यहाँ भी साथ हो
सागर के तल में ।

किन्तु सुनो
यहाँ कोई वन्द सीप
मत ढूँढना,
अब मत खोलना —
प्यास की अतृप्त मणि कण्ठ में धारे ही
काई की तरह फैलना —
लेटना ।

यहाँ आकर
सारी भीड़ सोती है ।
पैरों के छाले
नमकीन पानी से धोती है ।

इतना मत भूलो —
हम तो यहाँ भी विशेष हैं ।
इतना ही काफी है —
एक साथ जीने के
थोड़े पल शेष हैं ।

●

४ अक्तूबर १९६३

बीमन कविताएँ

पिना गिरे आंसुओ
 चमकीली आँखें
 लिये-लिये हँसूँ ।
 क़ैद बिना हुए
 कैद रहूँ ।
 दूर से तुम्हारी
 स्वरहीन आवाज़ रु
 —फिर सुनूँ ।

जागती रहूँ —
 सोती रहूँ ।
 थाली मरका कर उठ जाऊँ,
 बने हुए घास डाल दूँ बिडिया को ।

सन करती हुई
 कुछ न करूँ —
 बोलती हुई चुप रहूँ ।

होता रहे वह सभी कुछ
 ज़िम्मे की कभी चाह नहीं ।
 नहीं करूँ वही
 जिसे किये बिना
 निग्राह नहीं ।

मुझे एव सपना दिखता है
 अक्सर सोते जागते,
 और न जाने कैसे-कैसे
 छोटे-मोटे सपने आ कर मिल जाते हैं
 एक अकेले अलग खड़े सपने में

बहुत घनी, कलसाई, हरी वेल लतरो से
 गुँथा, छता,
 आकारहीन —
 बँगला ही है ।
 खिड़की सी है ढोने में, पर —
 — बस —

। लतरो का कुछ विरल झुण्ड — ।
 उसमें कोई है स्थित अविचल ।
 लम्बी सफेद कोहनी,
 घूमा मुख,
 दीख नहीं पड़ता जो ।
 लगता है —
 वह 'कोई' क्या है ?
 स्पष्ट — पुरुष है ।
 तर्क ?

— मात्र —
 मैं नारी हूँ ना ।

धौंसल कचिताएँ

यम इतना ही ।
 और एक —
 पत्तो मे डूबा
 छायादार जगन्नी रस्ता
 ताब्रे के पत्ता का लम्बा, सूना ।
 हवा नहीं जो चमर जोले ।

तभी — अचानक
 ध्यू मास्टर के नये चिय-सा
 चौड़ा, नीला सागर खुलता ।
 जिसमें जा बार दूर
 कटो घरती-सा वह रस्ता मिल जाता ।
 उसने पतले, मटमैले, ख़तरा़ले कोने पर
 कुछ बच्चे
 बाल मुनहरी, हवा मिले —
 बस
 खड़े हुए हैं ।

●

१५ दिसम्बर १९५५

इधर दो दिन लगातार तुममे मिलने के बाद
 लगा
 कि हमारे अचानक-बैचे सम्बन्धों में
 मोठी नरम घास उगने लगी है ।

यह लगने लगा
 कि
 इसकी ठण्डी हरियाली ही थी
 वह —
 जिसके लिए बरसों से
 आखें धुँधली थी
 जल रही थी ।

और यह भी
 कि
 ज़्यादा पास आने से टूट जाने वाला प्यार
 बिना पास आये पनपता नहीं ।
 मैं तुम्हारे नजदीक आऊँ
 या
 दूर हट जाऊँ ?

मैं खतरा उठा लूँ
या घुटने टिका दूँ ?

तुम्हारी आँखों के पिघल जाने की उम्मीद भ
रूँ

या पहले ही डर कर मान दूँ —

तुम्हारी आँखें

नहीं हैं मेरा घोंसला —

और उड़ जाऊँ ?

मैं क्या करूँ ?

हमारे अकस्मान् — बँधे !

ऊँच समुद्र में

मिठास आने लगी है ।

●

९ सितम्बर १९६४

यह असम्भवतता क्या है ?
 जहा जहा उलझी हूँ
 सुलझ गयी हूँ ।
 किन्तु यह सोधा सुलझाव,
 यह सपाट रेखा,
 यह अनुभूतिशून्यता
 क्या है ?

कही
 यह किसी का
 वेहद गहरा दाव तो नहीं ?
 कही
 यह जिना मुझे अह को झुकाने का
 नया पेंच तो नहीं ?
 दूर खड़ी सोच पाती हूँ —
 देख पाती हूँ —
 डूब नहीं जाती हूँ —
 यह क्यों है ?
 क्या है ?
 जो भी है
 छतरनाक है

२७ अगस्त १९६३

यह हवा का सद-सा झाका
 बहुत नीला
 घड़ा मीठा
 उड़े, प्यारे, गुलाबी बादला पर
 पेंग लेता,
 झूलता,
 आ कूद धानी टहनिया को
 चूमता,
 चुपके झरोखे से फिसल,
 अनजान ही में हाथ दोनों थाम कर
 मन प्राण सत्र सहला गया
 है
 यह हवा का सद सा झोका ।



१२ जनवरी १९५८

जिस दद से तिलमिला कर
तुम्हे पुकारती हूँ
कितना उपहासास्पद है ।

आख में टँगा तारा
घुँझला कर झटक देती हूँ ।
• गीत गुनगुनाती —
उदास हो जाती हूँ ।

जिस अकुलाहट की आँधी ने मेरा
तन मन झकझोरा है
वह भी —
वह भी कितनी लघु है,
कितनी अस्तित्वहीन दिखती है ।
जहाँ फैलाती हूँ,
दप का बोझ डाल पैर जमाती
— उड़ जाती हूँ ।

बड़े-बड़े अस्तित्वों के बोध कराने वाले तुम
जब
उमी आँधी में
भुझसे टकराते हो,
दद की शिला तले
चौमय बघिताये

पिमे पाये जाते हो,

जय

तुम मेरे सहगामी, सहभोवता बन आते हो

हैंम हैंस तय धूल-सी

दोहरी हो जाती हूँ ।

फिर भी तो

लौट-लौट

उलझन मे —

भटकन मे —

तुम्ह ही बुलाती हूँ ।

●

१६ जून १९६२

पतली पगडण्डी सी
 घूल-भरी सूनी माग
 अघर-धरे प्यार के
 मगल नक्षत्रों से भरी गयी ।

माथे पर ज्योति झरी ।
 पर
 मन की कोयल मूक
 निधि की महत्ता से
 डरी डरी रही ।

●

७ अक्तूबर १९६३

मैंने ऊँचे बादल देखे
 चांदी के मुन्दर बादल थे ।
 कुछ ठोस-ठोस —
 कुछ पिने हुए —
 क्या चाँदी भी रुई-सी पिन मरती है ?
 (क्या नील नदी नीली है ?)
 — तो नील नदी में सेत कबूतर
 मोटे, गुदगुदे, फुदकते
 ऐसे ही बादल थे ।

मैंने सोचा —
 "अब भी तो बादल अच्छे लगते हैं मुझको ।
 अब भी तो मन में
 अनजानी, अनजूसी
 एक उदासी घिर आती है ।
 वह कसक, टीस,
 वह दर्द —
 सभी हैं
 जिनको 'सालीपन की मौज'
 वृक्ष कर छोड़ दिया था ।

घमराहट हो गयी मुझे —

क्या मैं फिर मे

पीछे चल दी ?

कैसे आधुनिक कहाऊँगी

यदि

फिर से गोत

बहारो के,

बाग़े पीले दिन रातों के,

फूलों के,

तितली, भीरा के,

फिर

प्यार और मनुहारों के,

रच लूँगी

फिर से गा लूँगी —

कैसे आधुनिक कहाऊँगी ?

क्या जाने क्या हो गया मुझे ।

वह मौज गयी

पर साथ गयी मेरी कविता ।

जग की पीछाएँ लिखा कहूँ ?

आत्मानुभूति को अकन हूँ ?

— चिन्ता जग मुझ तक आती है —

(भैया बीमार पड़ा करता —

‘ये’ बहुत थके से आते हैं)

तब कविता सूझ नहीं पड़ती ।

कटुता इतिहास बना रखूँ —

बुछ

मन मे उमग नही उठती ।

दायद मे कवि ही नही —

मुझे कवि की-सी

सूक्ष्म प्रतीति नही —

अनुभूति नही मुझमे गहरो ।

तो ?

दोना खो हूँ

— जीवन —

— बचिता — ?

जाने दो —

‘इनकी’ बनी रहूँ —

सँकरो सीमा

पर

सफल रहूँ ।

कवि बन कर हो क्या पाऊँगी ?

●

१९५५

‘चलो’

बहो एक बार

अभी ही चलेंगी मैं —

एक बार बहो ।

सुना तब ‘हजार बार चलो’

सुना —

आखें नम हुइ

और

माथा उठ आया ।

बालू ही बालू म

खुले पैर, बँधे हाथ

चादी की जाली म सिमट,

बहुत दूर —

बहुत दूर नीलम का सागर तब

उमड़ पास आया ।

अनछूए, अनसीमे,

फिसले, अवरकी और

इन्द्रजाल तट पर

हम चलें ।

वहाँ ?
लहरा पर तिरें
कहाँ ?

खोज, भटक
मधु पा कर
पीछे ही लौटेंगे ?
लौटेंगे भी तो क्या
साहस से तिल-तिल कर
पल पल झुलने ही को ?

चलना भर सोचोगे
ऐसा क्या होता है ।
लहरो में उतरोगे
है इतना हलका मन ।

●

१६ मई १९५७

सूते दिन मे रस भीनी वाते
कैसे हों ?
बोलो ।

वाता की परतें — जाने दो
आज
नहीं ही खोलो ।

बीती रात भली थी क्या ?
साझ से निंदिया आयी—
जब वो जागे तब मैं सोयी
जब सोये तो
पल भर मेरी
आख नहीं लग पायी ।

आज वाग वाला था
मैंना सोती छूट गयी थी ।

मैंने देखा — जाने कैसे
काला भौरा
कमल कली को छेद
भोर से पहल उड आया था ।

बढ़ी-बढ़ी तारीफ
मगर दिन
आज गलत आ पहुँचा । —

रात वही अटका, भटका
मूरज
भूले में
मोन शिगर को छोड़
माँवले पर्यंत
भरमाया
है ।

●

१६ जनवरी १९५७

घाँस ने गूँथ घने झुरमुट की
 गिरेदार टहनी
 — लचीली —
 छाटी भी चिड़िया का श्याम वण
 चतुरा की आँस किन्तु
 पीली ।

लचकीली टहनी पर
 । चुकमुक यह चिड़िया लो ।

यात्रा की स्मृति-निधि से
 बहुत छान-बीन कर
 मित्र, वस तुम्हारे हित
 जापानी चित्र एक
 लाया हूँ ।

●

२८ जून १९५९

होठ सी कर
हाथो मे हथकडी डाल ली है,
गति बाँध दी है,
गले मे फन्दा पहन
डोर तुम्ह साप दी है
मैंने ।

भाँखें भी कर लूँगी बन्द
और तुम्हारी मुट्ठी मे दवे
भवितव्य के सहारे
छोड दूँगी

अपने सारे किनारे —

तूफान —

रेत के धराँदे —

सीपी के नेतु —

प्राणापण की वेला मे

निष्कम्प रहूँगी

तनी हुई सीधी



२० अगस्त १९६३

चीसरा कविताएँ

भोर का अजब सपना —
 (टटता तारा पन्ना ने धाम लिया जैसे हो)
 बार-बार लगातार
 हठ धक्के आया ।

लास बार बरजा था उसे—
 “बन्धु,
 ऐसी मैं सन्धि नहीं चाह रहा —”
 अकुलाहट यों भी क्या जाती है ?
 १ स्वर्ण मृग ! जीवन को ध्वस्त किया चाह रहे !
 (चाहे वह जीवन
 सोने की रूका
 ही क्यों ना हो !)

ओ मपने !
 लौट जा,
 बल फिर मत आ जाना ।

जिम की प्रत्यक्षा का वाण बना फिरता है —
 उस शब्दबेधी में कह देना —
 “यो ही चलाया था ?
 वहाँ तो शब्द भी नहीं था ”

तब तक मैं सोच लूँ —

मान लूँ —

सपना तो सपना है

पहले पहर का

या

तोमरे पहर का

●

२२ जुलाई १९५९

याद की उँगलियाँ द्वार खटखटाती ह
 भाँखें भोग जाती ह ।

रगिस्तानी मन म बहार फूट आती,
 सागर के शख बजते,
 नभ से फूल झरते,
 अगणित सीपियो के हारा तले
 कण्ठ मे सहमे हुए अश्रु ढलते ।

यह सब अकस्मात् होता है,
 मन वर्षों बोझ ढोता है ।

और
 अनची-हा, अनपेक्षित क्षण आ कर
 (मोह-भरी दृष्टि म रका रका,
 नम हथेलियो के स्पर्श म थमा-थमा)
 असरम उपहार गोद दे जाता है ।

अपरिचय के सूने पल म
 अनायास
 घना परिचय ढूँढ़
 उँगलिया उलवती ह ।

फिर वही पल
स्मृति का आवरण ओढ,
छप्पवेशी,
आता —
द्वार सटसटाता है,

हम
रातों जगाता है ।



१५ अगस्त १९६३

आत्मारहित पशुवत् देह की पुकार
अपने निरावरण दद म
असहाय है —

मेघहीन फीके,
नीले रंगे
आसमान-सी
पसरी —

पलकहीन आख सी
निर्मिमेप —
यह पुकार ।

जिसकी असह्य प्रतिध्वनियाँ
उठती ह
फूला के दहकते गुच्छो म,
हिलत
या चुप पड़े परदो म,
उमस
घटाओ म,
सूखी प्रज्ञा की चटखती रंगो मे ।

इतने तेज नाखूनो से
 चुरच जाने वाली आवाज
 क्या असत्य
 अम्बीकाय है ?
 और
 हर एक उधड़ा हुआ सत्य
 क्या अन्ततः
 सारे सौन्दर्य की भज्जा के ढेर का
 नहीं है
 अमिन्न अश ?



२१ मार्च १९६४

उम इगित को तुम्हे बता दूँ
 तुम हैस दोगे —
 "ऐसी छोटी बात जहाँ सब-कुछ
 हो जाये
 वैसा हलना प्यार वहा है ।"

यही वान बस —
 यही मापदण्डो की असम आस्था, केवल
 मन पर पहरेदार बनी है
 तीन भयानक मुँह वाले
 प्रगल्भ जुत्ते-सी ।

मगल को जाती हुताश
 हत नयी बधू सी मेरी उमग
 हाथ मे अमृत पात्र ढँका ही
 लिये
 द्वार पर ठिठक, खड़ी रह जाती है ।

तब
 बड़ी अनिच्छा,
 बड़ी विवशता से
 अमृत ही को दो बूँदें
 — दो अलभ्य मोती—

विशाल मुँह मे टपका,
साव उमे
आगे जैसे तेमे पग बढ़ पाते ।

यो बार-बार आना-जाता
यो बार-बार मोती जिखेर
क्या कुछ सप पायेगा, बोलो ?
क्या कही दूर के किमी अनिश्चित क्षण म
प्यासी हो
अनजान
कटोरा झपट
पियेगी सप अमृत,
फिर जन्म-जन्म मेरे मन मे जी जायेगी ?

लेकिन हो क्या ?
यह आर-जार नि अथ वन्द भी कैसे हो ?
मेरी इगित की चाह
तुझे बरबस ही सदा हँसा जाती ।
वह हँसी घम की अमह भार
कंधे पर मेरे लाद
झुका मुझको जाती ।
तब मैं
बस चुप रह जाती हूँ ।

●

१९ मार्च १९५८

रात-भर गीत चले
 ओढ परछायाँ ।
 पीपल का मोनरग पत्ता
 अकेला ही कापा ।
 झील करवटें बदलती
 हिलचली रही
 गम का मायूस कमल रहा —
 मुँदा
 — चुप रहा ।

सहमी हुई रात —
 सहमी हुई रात में गीत
 और पत्ता
 और झील
 और सूनापन
 — गम है —
 पर गम गलत करने को कहते हो ।

तब क्या मैं
 गीत से खादरें उधाड़ूँ
 टहनी से पत्ता उतार लूँ
 या

बीसवीं शताब्दी

झील के वक्ष रखूँ हाथ

कहूँ —

‘चुप हो जा,

सिहर मत ।

क्योंकि तेरी सास में महक है

महक याद

यहाँ

याद ही गम है

सखो ।’

●

२४ फरवरी १९५९

यदि जीवन बह होता ना
जा है ।
यदि चाद यही भा जाता
सदा पूर सिङ जाया करते
मन म —
चन्द नयन में —

धयावर उगत कमल तुम्हारे दृष्टि-परम स ?

कैसे
नह भावा के पछी
अनस्मात् भोरे
उतराते,
आगन आते ?
सारे घर म दूर-दूर तक
कैसे तिनके प्रियरा जाते ?

●

२० सितम्बर १९६३

चाहती हूँ
 मिना रके सीधी चली जाऊँ,
 द्वार वही सटखटाऊँ,
 बेसुपों का वही मिन्दु
 वही चरमोत्कप
 बार-बार पाऊँ ।

गया हुआ आयेगा,
 हाथ से फिमला हुआ
 मुट्ठी में आ कर पँध जायेगा ।

आकाश निरभ्र नीला हो उठे !
 बर्फ में जमा-जमा सूरज उगे ॥
 बहुत हरी घास,
 गुलदावदी,
 मीठी मटर,
 डेलिया,
 पेन्जी का रंग भरा उत्सव
 जाड़े का आगमन
 बार-बार लिखे ॥

मेरी कविता म,
तेरे काम के व्यस्त क्षणा म
दमवती
सुनहरी परछाइयाँ तिरें ।
तब —
तब भीत ।
गया हुआ आयेगा,
भूला हुआ गीत
अधर गुनगुनायेगा ।
●

२५ सितम्बर १९६३

उजले उजाले से घिरी हुई चल्ती हूँ
जिसमे तुम्हारा सतरंग प्रवेश —
बर्फ पर किरणो-सा,
होता है ।

ऊँचे कुहासे मे बहुत पास आ कर
तुम दिखते हो —
चमकदार मणि से ।
कोहरे से नम पड़ी आँखो का
सारा जल
भाप हो जाता है ।

तब सूखी आँखो मे
चुभते हैं सातो रंग —
आँखे
दृष्टिहीन रह जाती हैं ।

●
१५ मई १९६१

गीत की अमल्य माधारणता
और

उभरा हुआ दद ।

उम दद की परिणति

यही है —

यस यही ।

चम्पा की जड़ का मधुहीन रस
चोटी तक पहुँच नहीं पाया ।

अस्थिहीन शब्दों के उन त्यक्कन कचुल में
मुझे मत भरो ।

एक व्याकृति तुमने दी —

एक व्याकृति तुम हो

— सज मेरी आस्था,

सज मान्यताओं की ।

कभी कभी लगता है —

‘लो, वस अब उतर गया —

असावधानी की तूँटी पर

लद गया भ्रम का लवादा ।’

लेकिन फिर

वही,

वही भूल ।

तुम तो यही हो — आवरण से अभिन्न ।

व्यथा के शीत से मिह्र कहाँ पाओगे ?

एक दिन वेला के फूला की आग्व खुली

आसमान ताबे सा तपा हुआ

झूठे सलमे के तारे और चांद

टूट कर टपक रहे ।

●

८ मई १९६१

गुलाब मौ सुवह मे
कटि-भा कगलता मन —

चाद के दपण म
चोट की तरेह

मेरी मिटिया के
बादल से पैर मे चुभी
धीसे की कनी —

●

३० नितम्बर १९६३

बहुत समझदार
 बड़ी वयस का
 दुर्निवार प्यार —
 जो दूसरे को अन्य बाहो मे समर्पित जान
 स्वयं भी अन्यत्र समर्पित है ।

हर मजबूरी मे पिघलता
 हमेशा का अवश तन
 और
 शान्तिकामा बुद्धि
 — ग्लानि के ताप से
 बचा ले जाती है,
 हर बार
 लहर से उछाली
 सीपी-सा
 असम्पृक्त, अकेला छोड़ जाती है ।

फूँक फूँक पग रखता
 सँभला, अनुन्मत्त
 यह वयस्क प्यार ।

अबुलाहट स्वीकारते लजाता,
 सारी अभिव्यक्तियों को
 अनछुला मान
 दामन छुड़ाता,
 समस्त प्रयुक्त शब्दों से वचता वचाता —
 अपनी झुंझलाहट में कसा हुआ
 गर्वोला, अकिञ्चन

किन्तु फिर भी
 सप-सा उभरता,
 सिर पर सवार
 यह
 प्यार ।

●

९ जुलाई १९६४

पदाघात से अशोक फल आता है,
सुना है —
मसीहा मुरदे जिलाते थे ।

— एक स्पश यह है —
रात-रात भर चन्दा जगाता ।
नन्हा आघात झरने बहाता ।
आँखों के सुनहरे सूयमुखी
ज्योतिफूल के साथ
घूम जाते हैं —
हम सब कुछ भूल जाते हैं !

घीती हुई अथहीन घडिया के
चिह्न भर शेष रहे ।
आज तो
बार-बार
याद यही आता है —
“अशोक पर ज्वालाएँ उगती थी,
मसीहा मुरदे जिलाते थे ।”

क्या कभी दिन-रात
कान्तिहीन जाते थे ?

●

११ सितम्बर १९६३

अलसी भरी हवाएँ डोली ।

मीठी हरी मटर के फूलो,
सरसा की गलबाही डाले —

अरहर के गहरे पत्तो म,
फूले पीले लाख सितारे,
झडवेरी म मनके फूटे

तपो मटीली धूल उडी फिर
आसमान से धूप झरी ।

नमक भरे-से चने उगाय
चटकीली दिन कली खिली ।

लाल रत्तियाँ लोट-लोट कर
काली नटखट आसो इकटक

भारी अमरुदो का — पानी भरे लालची
ताक रही ।

चिट्टे साफ नये घोडे पर
कसे लगाम, ऍड दे बाकी
नीली नीली हवा
उडी ।

●
१९५६

पख लगा दूर उड़ जाना
 यही है क्या ?
 मतरगे इन्द्रधनु झूले पर पेंग
 यो ही बढ़ाते हैं ?

क्यों ?
 ये पख मोम के तो नहीं ?
 आधी उड़ान में
 तनिक ताप पा
 क्या —
 गलेंगे कहीं ?

नहीं
 भुलावा दो मत ।
 इन्द्रधनु तो हैं ही भ्रमजाल ।

लेकिन श S S S
 चुप रहो ।
 धीरे मत करो ।
 सोने दो ।
 यह भी हो सकता है
 सपने कभी टूटें न,
 पेंचदार गलिया अतहीन हो ।

और
सभी कुछ —

जागने की
रोशनी की,
परिधि के बाहर निबल जाये

●

१८ सितम्बर १९६३

रग बहुत मिल गये
 फूल बहुत मिल गये
 तारे असत्य हैं
 लेकिन
 पहले
 तुम बोलो ।
 लो
 तो लो ।

आह ! तनिक रूको-रूको
 यही रग तुम लोगे ?
 मटमैला घूमिल सा !
 यही फूल चुनते हो
 दूँटी पसडियो का !
 यही देर से उगता
 जल्दी से झँप जाता —
 रगहीन ताग तुम्हारा है ?

छुपी छुपी बातों को ढँका हुआ रहने दो ।
 तुम लो गुलाब और चाद
 और अरुणाई

मेरा उदास मन
 छूओ मत,
 सहने दो ।

●

५ जनवरी १९६१

चौमठ कविता

तपे हुए माथे पर उफ गी उँगलियाँ

छुना दूँ —

किन्तु हाथ उष्ण हैं ।

थकी हुई आँखा म

उड़ेल दूँ अन्ध शांति —

किन्तु अपने ही दृग दृष्टिहीन हैं ।

सूखे अधरो की परतें

रक्तहीन हाठ हर पायेंगे क्या ?

हर हारी हुई राह स्वयं मज्जिल हो जायेगी ।

हर भ्वा हुआ पग अन्तिम —

हर चुकी पलक

मिथ्या जग देगी —

और —

पल प्रत्येक

सौरभ विहीन,

सूखा,

झरेगा ।

•

१६ सितम्बर १९६३

ओ मोठे, निरथक वोलो के प्रणेतता होठ ।

ओ हँसती हुई आखो ।

कैसा सदेह का वादल

देखते-देखते

तुम्ह मटीला कर जाता है ?

ओ सूखी हथेली वाली

वाशानिक बाहो

क्यो मैं तुम्हारे घेरे मे

छाया बन जाती हूँ ?

●

१९ मई १९६९

सिर्फ याद और याद और याद

अन्य कुछ छुआ नहीं जाता
 नहीं मन वाता
 नहीं कही उगता कुछ ।
 सिफ सुबह तिल हुए कुई फूल
 ताल म —
 तट पर कुछ सूयमुखी,
 शाम का बरी हुई भुमी सी पैखुरिया ।
 और बस याद, सिफ याद

खिडकी से लगे हुए कीकर की गन्ध
 गाया की घण्टियाँ —
 शाम के साँवले कपोल पर
 आसू की छिटकी कुछ
 बनिया
 शब्दहीन शोर की उयाती उदासी
 और सिफ याद बस याद

डूवती उतरती
पल-पल लहर पर —
उसी एक स्मृति की
महक भरी
पाल खुली
नाव —

●

२७ सितम्बर १९६३

मोहक वन्धनो म अडी हुई फाँस
सदा नहीं टीसती

आँखो पर उतरे हुए जाले भी
सदा नहीं दीखते

किन्तु

विप फैल जाता है
रग भी धूमिल हो जाते हैं

और

ऐसा मोड आता है —

मञ्जिल खो जाती है
राह छिप जाती है ।

●

१० मार्च १९६३



बहुजन की पीडा के वन से
आओ —

पेड़ तराश दें,
काटे बुहार कर
माग निकाल दें ।

हाथ तो क्षत होंगे
किन्तु क्या केवल हमारे ही ?
विजित पैरों की स्मृति दुख हरेगी ।

कमर भी झुकेगी
लेकिन
दृष्टि तो उठेगी ।

प्रणय के पलो को कमा ले —
अर्जित कर ले सुख की अनुभूतियाँ —
आखों को निरपराधी बना लें ।
बहुजन की पीडा के वन से
काँटों की झाड़िया हटा दे ।

अकम के श्राप से ग्रसे हुए
 हम सग
 निरथक सम्मोहन मे वँधे
 चरे जायेगे — कब तक ?
 कब हमारे शब्द फलेगे ?
 निष्क्रियता के लिए ढूँढे वहाने
 चुकेगे कौन तिथि ?
 दपण से दृष्टि हटा ले !

•
 हर एक अपने से दूजे को
 माग नही
 मजिल बना लें !
 बहुजन की पीडा के वन से
 पेड तराश कर
 माग बना दें !
 •

२१ फरवरी १९६४

कभी कभी ऐसा भी लगता है —
 “तभी पास आते हो
 जब बहुत दूर जाते हो”

अन्तरंग में
 पोर पोर में बसे हुए —
 मुझे स्वयं में रमाये —
 कहीं-कहीं लिये चले जाते हो ।
 भागते हुए पेड़, नदी, खेत
 छोड़ पीछे —
 खिड़की से लगे-लगे दोनों,
 पसरी हुई धरती के छोर तक,
 साथ साथ दूर हुए जाते हैं ।

थकी हुई आँखों में नींद —
 माथे की सलवट पर हलकी हथेली —
 नींद का सपना
 हथेली की नमी
 वन
 उतर आनी हूँ ।

पर
अगले ही क्षण
मेरे आसुओ में चमकते हुए तुम
शीशे के चाद से
ढुलक आते हो

और दूरी में पास रहने का
सूना मनःहलाव
— नस-नस में तनाव का
मैलाव उठा लाता है ।
— बचकानी खुशिया,
भुलावा,
सहज खुश रहने का
हर मधुर दावा,
बहा-बहा
दूर फेंक आता है ।

●

२३ सितम्बर १९६३

सुबह
जो हर दिन
चिड़िया-सी चहचहाती आती थी,
कन्धे बैठ जाती थी,
आज —
घोसले से गिरे प्रच्चे सी
निस्पन्द पड़ी है ।

क्या अब यह चोच नहीं खोलेगी ?
क्या अब यह पल हिलेगी नहीं ही ?

किंतु इन प्रश्नों से पहले ही
मेरा सिर झुका स्वाय
पूछ उठता है —

क्या ऐसे ही —
रोज-रोज अके पाव आने वाली
राख भरी क्षाम
आज ही अचानक —
घुँघर छनकाती,
चूनर लहराती,

लासो गुलाब की सुख शहजादी वन
आगन आ जायेगी ?

इसका विश्वास हो जाये तो
बिना झुके,
बिना छुए,
हाथ झाड़ चल दूँ मैं ।

माँ चिड़िया के आने से पहले ही,
अभी ही ।

●

१८ जून १९६२

विक्षिप्त और लडखटाते पाव —

गहरी रात में चमकते

उदाम मकान की खोखली खिडकियों से
दूर रह जाते हैं ।

पत्तों में सनाटा सरसराता है,

पेड़ों में चींटे लोट जाते हैं ।

और आ जाते हैं आसू

उन पर झुंझाहट —

आसू में अकस्मात्

अगारे

उग आते हैं ।

तब मैं सिर धुनती हूँ —

हवा-मी बिलपती हूँ —

लहर सा पछाड़ खाता

पागल मन मेरा

बार-बार रोता है —

‘उनको मैं

क्या भूली ?

मैं उनको—क्या कभी भूली ??

●

४ अक्तूबर १९६१

चौसठ कविताएँ

दद की कुछ और कड़ियाँ बढ़ गयी हैं ।

शाम ज्यादा जद, रातें सद
वीरानी सुनह, सूनी दुपहरी —
जिन्दगी अजगर सरीखी
सिमट खुलकर रंगती ।

सो बरस की नीद सा सपना
कहा तक और फैलेगा
न जाने ।

और कितने युग खुदेगी नीद मन म ।
बन्द कर हाग हथौड़े छेनिया ।
पत्थरा की यह हताई
कौन जाने
कब रुकेगी ।

मकनरा बन जाये,
राहत मिल सके मुसको,
असंखे दुग म

कब
बिना छूई,
बिना रोयी,
सो रहेंगी ?

●

२२ मई १९५७

चौमिठ कविताएँ

लकड़ी की इमारतों में
 पड़े लोगों का जमघट
 क्यावि वो इतने 'सिनिकल'
 अर भी नहीं
 जितना बैनरा ।
 (उदाम घाटियों में आमू-भरे बादल ?
 गुलो रोशनी में नन्ही इमारत ।
 अरे, बैनरा का 'एनोरेजिनल' नाम ॥
 'यागलुमला' और 'मनूका' का
 धनिन-माधुध्य ॥)

दोस्त छोड़ दो न मुझे —
 फिजूल उलझते हो —
 न हो,
 साफ साफ जरा सोचो,
 देखना चाहो
 तो
 उलट लो मेरा काढ़
 और भर लो आँखों में
 'कैनरा का ऑटम' ।
 (टैराकोटा सा आधा तपा)

पहचान लो —
 'सिनिक' होने के नाते
 न फरने वाले बैनरा के प्रति
 मेरा प्यार —

१ बैनरा की दो वस्तियाँ ।

तब कहा,

बड़ा 'इन्टरव्यूअल' मैं या तुम ?

रवीन्द्र की कविता का उत्तर

२

मूने महादेव के उत्तर में

बोलाहूँ भग्न नगर भेजनी हूँ ।

पपी आरादी से बसा हुआ

बादल के एम्ब्रेस्टम से पटा आममान —

जो बस

बगना है तो

उरना ही जाता है ।

रविता गमना में बापल उगनी है

लारे हा आने हैं पीपे ।

गपनों में लगता है

जैग

दा पीपे ही

'गामादार उगनी' रगना' बनता है ।

जिन्ह देख
भन उदास हो जाता है ।
वो

जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की यातों को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं ।

शायद
मैं भी उन्ही में हूँ —
'मिनिक' और सीमित और स्वार्थी
तेरे कैलगा के पेडा को चूम
बाहि्यात लिखती हूँ
जहर ९

किसी पत्र
सधन्यवाद वापस

अपने
' ९

‘राष्ट्र मिल सों मुसों’ बगेरू बगेरू

यार,

‘यागदमन’ की बात क्यों करते हो ?

हम मुसों की बातें का

सुनना क्या गय,

रुखी नहीं

आमनात कर गय !



जिह देल
मन उदाम हो जाता है ।
वो

जो अभी तक
वीम बरम पुगनी दुनिया की बातों को
सोच-मोच दुहराते,
अपनी बतान हैं ।

शायद
मे भी उन्ही मे हूँ —
'मिनिक्' और सीमित और स्वार्थी ।
तेरे कैनरा के पेड़ों को चूम कर
वाहियात लिखती हूँ —
जहर उगलती हूँ ।

— क्योंकि
किसी पत्र ने कविताएँ
सधन्यवाद वापस भेजी है —

और फिर
अपने ही जहर को
'बूझ' समझती हूँ
पीती हूँ ।

और
अपना ही
'गजीवा' बनाती हूँ ।
'मकवरा' बन जाये,

चौमन्य परिताप

जिन्ह देख
मन उदास हो जाता है ।
वो
जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की याता को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं ।

शायद
मैं भी उन्ही में हूँ —
'मिनिक' और सीमित और स्वार्थी ।
तेरे केनगा के पेडा को चूम कर
चाहियात लिखती हूँ —
जहर उगलती हूँ ।

— क्योंकि
किसी पत्र ने कविताएँ
सधन्यवाद वापस भेजी ह —

और फिर
अपने ही जहर को
'वृज' समझती हूँ'
पीती हूँ ।

और
अपना ही
'गजीवो' बनाती हूँ ।
'मक्करा बन जाये,

एक परत, एक लहर,
 मिटती भर चाँद चुग।
 शीतल तब्र भर कर
 एकादश।
 घनी राशती जहाँ —
 घटाटाप
 बादल के लाह के द्वार बन्द।
 मिटती भर चाँद चुग —
 रोटा ता —
 जाकर, नसेती लगा ला ना !

रात एक नया गीत गाया था,
 किसी ने सुद आकर बजाया था ।
 (पिघली हुई आग सा राग था पिलाया था)

किन्तु सुबह होते ही
 गीत वह भूल गया ।
 और
 वह साज्जदा —
 देह के कसे तार छेड़
 लौट आया जो
 चौक कर पूछ रहा —

“गीत ?
 अरे, क्या
 तेरे
 किसी सपने में
 मैं कभी आया था ?”

•

२३ जुलाई १९५९

एक परत, एक लहर,
 मिड़की भर चांद गुला ।
 चांद के तडरार बर
 एक बार ।
 पनी रोगनी जहाँ —
 पटाटोप
 चांद के लाठ के द्वार बन्द ।
 मिड़की भर चांद गुला —
 चांदी तो —
 चांदर, नसेली लगा ला ता ।
 ●

दुपहरिया फूला सा तपा छिपा प्यार
देखा ही किसने ?
कव ?

मरुथल सी आखों का रेतीला ज्वार
बूँद-भरे सागर के
पीछे ही पीछे तो सदा रहा —
जाना ही किसने ?
कव ?

सँकरीली, पथरीली गलियो म
आकुलता भागी थी
बरसा से, जन्मा से ।
जडता का पत्थर जो जमा उसे
पल-भर का उजियाला,
नभ छूते पड़ो की हरियाली,
घरती का सोधापन,
भाया था ।
जडता के पत्थर का देख
— भला —
माना ही किसने ?
कव ?

तुम कभी क्या मानोगे ?
बादल तो भग-गुरा जाता है
भरा-गुरा जाता है,
रगिस्ताली मन का क्या तबल मान
कभी
तोड़ नहीं पाता है ।

●

२२ मई १९५७

एक गहरी आवाज
चल रही है मेरे अन्दर
तमाम बन्द द्वार खटखटाती
वो सारे सवाल उठाती
जो मुझे खुद से पूछने का
साहस नहीं हुआ ।

मेरी तहो में जल उठे हैं चिराग
सारी सम्भावनाएँ
अपने-अपने ग्रहाण्ड को समेटे
दूर से नगण्य दिखते तारे सी
जगमगाने लगी ह ।

उभरने लगी है रात
जिसके अँधेरे में
कई वाते हो जाती ह सम्भव
लेकिन जो
खरी उतरती है तभी
जब सूरज से मिला पाती ह
आख ।

भीतर ही भीतर
उम्मे हुए माग
फंफने लग है गिरकर —
उमो आवाज के नहारे
रेगाएँ हा चली सीधी ।

अपरे ने डर नहीं है
अरे ने डर नहीं है

मेरा अन्तर एक तैल हुआ गया है ।

६ अक्टूबर १९६८

मैंने गृह्य मे होमठ भावा की
हत्या कर दी है,
इस हत्या का दोष मेरे सिर है,
केवल मेरे ।

गृह्य से पवित्र विश्वासा को
क्षण की आँधी में उड़ा दिया ।
इन घासलो के बिसर जाने का दायित्व
मेरे कंधा है
केवल मेरे ।

अनेको उजले हाथों की निरभ्र मुसकान
मेरे अपवित्र हाथा ने पाछ दी ।
पीले पडे गालों पर गृह्ये जासुओ का
अजसू स्रोत
मैंने उ-मुक्त किया है —
केवल मैंने ।

किन्तु मैं

अविचार नहीं हूँ

समय नहीं हूँ

लाचारी भी नहीं हूँ ।

क्या तुम जानते हो

— मैं क्या हूँ ?

२१ भारत १९६३

काश, मेरी कविता तुम्हारे हाथों में
 गा देती ।
 यदि मेरी अनुभूति तुम्हारी शिराओं में
 झनझनाती ।
 वह जाती ।

तुम्हारी नीली रेखाओं वाली पलकों की
 अवोध झपकनों के
 कुछ भी अर्थ नहीं निकलते
 और
 निरर्थक स्पन्दन सस्वर हो जाते ।

काश, वह सपना हो जाता
 जो अब तक नहीं हुआ —
 पुलक से फूल झरते
 फूलों की परछाइयाँ बनती
 परछाइयाँ वादलों हो जाती
 छा जाती
 और
 फिर भी धूप का मुनहरा इन्द्रधनुष
 तना ही रहता ।

जनमय तुम मुडत न
व्यय हो कोई शरशोर कर
शोत स्पश से छूता न ।

काग, काग, काग,

म जाय मूँद
जरो उर स्वर ममट पातों —
तो जानी
गा गी हो रहती —

●

२८ ११५२२ १९६१

भीड़ भरी
जकैली शाम
और
घुटी हुई नगरी में
सास लेता हुआ मेरा मन
मर गया ।

विशालकाय पहियों के नीचे
पिसी देह
आख खाल देख रही
कि वह
परित्यक्ता हा चुकी —
शय रोगिणी-सी
अस्पृश्या ।

भोड़ उसे छोड़ आगे निकल गयी
और
क्षण भर में अपने
नये, नितान्त असम्पृक्त
अवेलोपन से
ऊन कर उठ गयी ।

दूर गिडगि के पार

हरे-हर मैदान हैं,

— तब था —

उदाम, हर क्षण नुस्ते

पड हूँ —

अमर्त्य,

गरी, मुठी गतिवा माने ।

और

प्यार की अगम्य कल्पना है

धन्य मुट्ठी से किमलती

रत्न-सी,

असफल प्रयास-सी ।

धारा और से पसरकर

राहत देता हर व्यक्ति

मरा मन,

पिघीले,

मुली जी में गिने

ताप रहा ? —

गहर गीत

य

स्मित, परिस्मिता के बीच —

है तो नोट यह —

अदृश्य बरतने से

तब तक हमर एक —

●

कर गया ज्वरुद्ध
जीर
भर गया धमनियो म
अपने ही स्नेह का
विकल वीर ।

आवाज आत्मज को पुकारती
नापती रही दूरी,
कापती रही
स्वयसिद्ध उत्तराभाव मे ।

●

३० जुलाई १९६३

व्यक्तिता तो परता न,
 दूर तह म,
 एक-एक तुम्हारा गरदन
 ब्रम गया है
 पतल बना न रागा —
 जो मर नह ते बीना लता
 दुध उपर न दसा भी
 निताग लता तुम्हारा है ।

उत तुम्हारा पारदर्शी गुन ॥
 छिन निम्र न हो
 ओ लता है
 हषीदा उदा ॥ १

गुलाब की लाल पखडिया वाल
मेरे व्यक्तित्व की हर परत म
हर तह म
पतले वफ के शोशे से
जमे हुए हो ।

म आर-पार
अपने को छू नहीं पाती ।
सास भी ल नहीं पाती ।
और
धीरे-धीरे
सारी लाल पखडिया
काली
हुई जाती ह ।



१९ मार्च १९६२

प्रथम स्वयं का जन्मदिन
 प्रथम पुल्कित मोन रा
 एक माह—
 दूरी न बीत गया ।

दृष्टिशा की मुभ यत्र
 गुजर गयी पाम न ।

मयल ?
 दान तर
 आछाग टेंग तारे गा
 नाद । हो या । हा पमि ।
 गिरद वर
 गत गया ।

●

१३ गिरावर २०६३

मीत हमारे ।

चैत चादनी खिली
खुली रगीन बदलिया ।
सहजन की चिकनी डालो पर
कचिया हरे रग के पत्ते
उग आये ह ।
जमुवा बीरा चुका —
लदा छोटी अमिया से ।
मेरे लीची के पडो पर यौवन आया ।

मीत हमारे ।

याद चाद सी उगी
उगा गयी, मन फुलबगिया ।
तितली के पखो से झरकर
मीठी मीठी, अनमन, ऊँघी,
छीन उदासी बरस पडी है ।
पिय परदेसी बने
न जाने कैसा हिय ह ।
निबुवा के सव फूल झर चुके
मन भर जाया ।

●

४ अप्रैल १९५५

चौसठ कवितार्थ

१ बहुत बड़ा, पंच वाला
 का माँप
 होता हुआ जाया है ।
 २ गीत गीत
 तमा पर छाया है ।
 ३ डली जमा कर
 ४ पर जा मेठा है
 ५ के हाहाकार से अभिन्न
 ६ के इन गिर
 ७ है ।

८ १० को लता गीत
 भवार हा गया ।
 ९ का गीत गीत
 १० ने
 ११ का गीत गीत कर ।

१२ के गीत गीत गीत
 १३ का
 १४ का गीत गीत गीत ।

आवी वही नदियों के गीत
सहम, धम गये ।

शिव के डमरु पर थाप नयी वजो
गुडिया के गहना को जगह
मिट्टी और काठ की
सेनाएँ सजी ।
उड़ती हुई सद हवा सनसनाती
वेध जायेगी ।
युद्ध की विभीषिका
जीवन से मरण तक
असरय
समानान्तर
रेखाएँ खींच जायेगी ।

किन्तु
हर सपदवी देह की आत्मा से एक
कृष्ण
सावली सशक्त बाहु उठा चला आयेगा —

सप की एक ऐठन को
ढीला कर —
फन को आबद्ध कर —
नाच नचा जायेगा ।

●

१० जनवरी १९६३

चन्दन तन पर रिमते गाँवर लिय
जाता
छार बिस्तार माप गया —

गही मिला अविनी
गही मिली मात्रा की
बहु बमोप गाला
जो छन-मात का रेण दूर करती,
गार्द तो छात्र नही पाया
त्रिमते स्तम्भन छ
ग्राज ही अद्विती,
बहु बमोप गाला
त्रिमता जाप
गार्दना भृगुभाई —
गार्दना भाग —
गही पर गही पा ।

ग १ ४ १ अम
ग १ ४ १ अम
ग १ ४ १ अम
ग १ ४ १ अम

— अश्विनी मिले किन्तु
दान न दे ।

— शास्त्र किसी और के हाथ धरा
पाऊँ ना ।

— माला किसी अन्य की
शान्ति का साधन हो,
अपने निमित्त तब
दृष्टि उठाऊँ ना ।

रिसे हुए घाव
बहुत तपे हुए पाव
रहे ।

कभी वही बैठेगी छाह तले,
किन्हीं
शक्तिवान पैरा की सगति मे
लेगी
दो-चार कापते डग नये ।

एक दिन विन्तु एना जा जागेगा,
हताशा का अन्तिम छोर छू जायगा ।

उम दिन
अंगहीन, म्वखीन, दुष्टिहीन
आत्मा,
गुल जागाग नम
जास गाल लटगो ।
नेयड
हवा उतरु
रुसे नेग ममेटेगो ।



२४ गिअर १९९१

